इकाई 18 जाति के आयाम: अनुष्ठान और सत्ताधिकार

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- जाति के भिन्न अर्थों के बारे में जान सकेंगे;
- जाति के ऐतिहासिक संदर्भ पर रोशनी डाल सकेंगे; और
- वर्ण-व्यवस्था पर प्रचलित दोनों सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्यों के बारे में बता सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

आंद्रे बेटाइली लिखते हैं: "जाति पारंपरिक भारत की बुनियादी संस्था है।" निश्चय ही जाति हिन्दू समाज के लिए इतनी बुनियादी है कि प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास यह कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं: "हिन्दुस्तान को वर्ण व्यवस्था से विलग करना असंभव है।" मगर भारत में गैर-हिन्दू संप्रदायों में भी जाति उतनी ही व्याप्त है। ईसाई, इस्लाम और सिख जैसे धर्म हालांकि इस तरह की 'संस्थागत असमानता' के आदर्श के विरुद्ध थे, मगर वे सामाजिक संगठन का ऐसा कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं कर पाए हैं, जो भारतीय ताने-बाने में टिक सके। इसलिए ये सभी संप्रदाय भी वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप ढल गए। इस संस्था की पूर्ण अभिव्यक्ति जाहिर है हिन्दू समाज में ही होगी, मगर भारतीय उपमहाद्वीय के अन्य सम्प्रदायों में भी इसकी प्रछन्न अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

एक संस्था के रूप जाति की अपनी एक संरचना और अपने मूल्य हैं। यह सामाजिक संगठन का सिद्धांत और एक सामाजिक विचारधारा, दोनों है। भारतीय समाज में जाति की केन्द्रिकता और आधुनिकता से इसके विरोधात्मक संबंध के चलते हमें यह तत्काल नजर आ

जाता है कि इस संस्था में किसी तरह का बदलाव ऐसे समाज में आधुनिकीकरण पर निर्णायक प्रभाव डाल सकता है। असल में इस मामले में हम किसी भी परिवर्तन के लिए एक 'गुणक प्रभाव डालने की अपेक्षा कर सकते हैं। मगर हम जब उपलब्ध अनुभवजन्य प्रमाण पर आते हैं, तो इसके संकेत हमें उतने प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होते जितनी कि हमें अपेक्षा होती है। यर्थाथ में कोई भी सामाजिक संस्था, खासकर गहरी जड़ें जमाए जाति जैसी संस्था, कभी लुप्त नहीं होती। इसलिए यहां एक यथार्थवादी प्रश्न उठता है कि बदलती स्थिति में आखिर जाति कौन से नए रूप धारण कर रही है और ये रूप आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को किस तरह से प्रभावित कर रहे हैं?

इस प्रश्न को एक वृहत्तर दायरे में रखने पर हमारे लिए यह प्रासंगिक हो जाता है कि हम जाति के अर्थ और उसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझें। कोई भी बदलाव चाहे प्रचंड ही क्यों न हो, वह हमेशा अतीत के साथ सांतत्य बनाए रखता है। वर्तमान को अच्छी तरह से समझने और भविष्य का अनुमान लगाने के लिये यह नितांत आवश्यक है। मगर सबसे पहले जरूरी है कि गहराई से यह जान लें कि जाति का अर्थ क्या है।

18.2 जाति के भिन्न अर्थ

जाति को दो भिन्न अर्थों में लिया जाता है। इसलिए ये जाति की उत्पत्ति और अर्थ की दो अलग-अलग व्याख्याओं को जन्म देते हैं। लीच के अनुसार "एक *नृजातिवर्णन संबंधी* श्रेणी के रूप में जाति सामाजिक संगठन की ऐसी व्यवस्था को कहते हैं जो हिन्दू भारत की विशिष्टता है। मगर एक समाजशास्त्रीय श्रेणी के रूप में यह किसी भी किस्म के वर्गीय ढांचे को दर्शाती है, जो अद्वितीय रूप से कठोर है।" पहला अर्थ जाति को सामाजिक-सांस्कृतिक दायरे में रखता है और भारतीय समाज में प्रचलित इसके विचित्र आनुष्ठानिक पहलुओं पर विशेष जोर देता है। दूसरा अर्थ जाति का विश्लेषण समाज की राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था में व्याप्त सत्ताधिकार के संबंधों की रोशनी में करता है। पहला नजरिया जाति के सहज्र गुण संबंधी या सांस्कृतिक आयाम पर बल देता है जिससे वह भारतीय संदर्भ तक ही सीमित रह जाता है। जबकि दूसरा नजरिया अन्योन्य-क्रिया या संरचनात्मक आयाम पर केन्द्रित है, जिसका हम भारत से बाहर के समाजों के लिए सामान्यीकरण कर सकते हैं।

नृविज्ञान जाति के पहले अर्थ को लेकर चलता है। इसमें जाति की परिभाषा में सांस्कृतिक विशेषताओं की सूची दी गई है, जो इसके संलक्षण की रचना करते हैं। हटन ने ऐसी सात विशेषताएं बताई हैं: अंतर्विवाह, सहभोजिता पर पाबंदी, जातियों का क्रम-परंपरा के अनुसार श्रेणीकरण, खान-पान, यौन-संसर्ग और अनुष्ठानों से जुड़ी दूषण की धारणा, पारंपरिक व्यवसायों से जुड़ाव, जाति प्रस्थिति का आनुवंशिक आरोपण, ब्राह्मण की प्रतिष्ठा। मगर जाति को परिभाषित करने की इस विधि की आलोचना की जाती है जो सही भी है, क्योंकि दयुमोंत के अनुसार इस तरह की सूची हमें "विशिष्ट लक्षणों का मिश्रण प्रदान करती है, जो स्पष्टतया एक ऐतिहासिक घटना की उपज है।" इसीलिए यह हमें जाति की शुद्धत: ऐतिहासिक व्याख्या के दायरे से बाहर नहीं ले जा पाती है। अत: इसके दायरे से बाहर निकलकर कुछ नृविज्ञानियों ने संरचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है जिससे उस गूढ़ संरचनात्मक सिद्धांत को समझा जा सके जिससे ये सभी लक्षण उपजे हैं।

जाति के संबंध में क्रम-परंपरा के सिद्धांत का प्रतिपादन सबसे पहले होकार्ट ने किया था। उनके विचार से यह मूलत: एक धार्मिक क्रम-परंपरा थी जो सीधे धार्मिक संस्कारों से उपजी थी। इसे बदल कर और इसे और विस्तार देकर दयुमोंत ने निष्कर्ष निकाला कि पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध होता है, जो इस आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा और स्थानीय स्तर पर जातियों के पार्थक्य को जन्म देता है।

अभ्यास 1

जाति के भिन्न अर्थों पर चिंतन कीजिए। इनके बारे में अपने संप्रदाय के लोगों से चर्चा कीजिए। क्या उनमें कोई सहमति उभरती है? अपनी नोटबुक में यह जानकारी लिख लीजिए।

दूसरी ओर समाजशास्त्र ने जाति की संकल्पना गढ़ने के लिए एक सामान्य और तुलनात्मक योजना की तलाश में जाति की व्याख्या सामाजिक स्तरीकरण के मॉडल से की है। स्तरीकरण की पद्धतियों को एक *सांतत्यक* का हिस्सा माना जाता है जो बंद से खुले समाज की ओर जाता है। लीच का मानना है कि एक वास्तविक वर्गीय प्रणाली और वर्ण-व्यवस्था के बीच अंतर इस बात पर निर्भर करता है कि इस सांतत्यक को हम कौन से छोर से देखते हैं, "जिस सांतत्यक में परस्पर अनन्य से लेकर परस्पर-व्यापी प्रस्थिति समूह मिलते हैं।"

वेबर का वर्ग, प्रस्थिति और सत्ताधिकार का क्लासिक मॉडल हमें अपेक्षतया अधिक उचित योजना प्रदान करता है, जिससे हम जाति को समाजशास्त्रीय ढंग से समझ सकते हैं और उसकी व्याख्या कर सकते हैं। इस मॉडल को अक्सर इसके प्रयोग के लिए किया भी जाता है। इस मॉडल में जाति को एक विशेष किस्म का स्थिति समूह माना गया है जो "कुल आकर्षण" के सिद्धांत पर आधारित होता है। कुल के प्रति यह आकर्षण हमें विरासत में मिलता है। जातियों की संख्या में वृद्धि 'जाति दरार' के परिणाम स्वरूप होती है। पलायन, नए पंथ का बनना, व्यावसायिक विभेदन जैसे अनेक कारकों के चलते जातियों में इस तरह की दरार उत्पन्न होती है, जो उन्हें और टुकड़ों में बांटती है। यह मॉडल विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्योन्य-क्रिया की बात करता है। इसके अनुसार जाति विभेदन मूलत: धार्मिक होता है, मगर राजनीतिक सत्ता इसे विधि सम्मत बनाने और आर्थिक हित इसे कायम रखने में सहायक होते हैं। जाति से जुड़ी परिघटनाएं एक आयाम तक सीमित नहीं है। इसलिए यहीं से हमें बहुचर विश्लेषण का प्रस्थान बिन्दु मिलता है, जिसे सामाजिक स्तरीकरण संबंधी अध्ययनों में खूब प्रयोग किया गया है।

18.3 ऐतिहासिक संदर्भ

इन दो नजरियों में मौजूद अंतर प्रमाण के उन स्रोतों तक जाता है जिन पर ये निर्भर करते हैं। इन स्रोतों को हम दो मुख्य प्रकार में बाँट सकते हैं: साहित्यिक और ऐतिहासिक। पहले प्रकार के स्रोत धर्म विधि के पवित्र ग्रंथ स्मृति और धर्मशास्त्र से आते हैं। दूसरा स्रोत ऐतिहासिक सामग्री और जमीनी शोध (फील्ड रिसर्च) है।

भारत के आरंभिक अध्येता इतिहासकार या समाजशास्त्री नहीं थे। बल्कि उनकी रुचि मुख्यत: भारतीय भाषाओं और साहित्य में थी। इसलिए हम समझ सकते हैं कि भारत पर किए गए आरंभिक अध्ययनों में प्रमाण के साहित्यिक स्रोत मुख्यत: क्यों प्रयोग किए गए थे। इससे हम यह भी समझ सकते हैं जाति के प्रति विचारधारात्मक नजरिया किस तरह से अपनाया गया था। मगर यह नजरिया मूलत: ब्राह्मणवादी था जिसने अपरिहार्य रूप से जाति की वैचारिक और आनुष्ठानिक व्याख्या पर जोर दिया। मगर आज दूसरे प्रकार के स्रोतों को अधिकाधिक महत्व दिया जा रहा है। इसके फलस्वरूप जाति की ऐतिहासिक तस्वीर बदल गई है जिसमें अंत:समूह संबंधों की सामाजिक वास्तविकता और इसमें निहित सत्ताधिकार समीकरणों पर अधिक बल दिया जाता है। निस्संदेह जाति की इन दोनों तस्वीरों में हमें मतभेद नजर आता है, मगर जाति को गहराई से समझने के लिए हमें इन दोनों को साथ लेकर चलना होगा क्योंकि सामाजिक विचारधारा और सामाजिक बनावट में हमेशा पारस्परिकता विद्यमान रहती है।

जाति की आधिकारिक हिन्दू विचारधारा वर्ण-व्यवस्था में अभिव्यक्त होती है जिसमें सभी जातियों को रखा गया है। श्रीनिवास हमें इसके लक्षण इस प्रकार बताते हैं: i) इसकी एक अकेली अखिल भारतीय क्रम-परंपरा है, जिसमें कोई आंचलिक भिन्नता देखने को नहीं मिलती है, ii) इसमें सिर्फ चार वर्ण आते हैं और अगर हरिजनों को जो कि शब्दश: वर्ण-व्यवस्था के दायरे से बाहर हैं, उन्हें भी गिना जाए तो इनकी संख्या पांच हो जाती है। iii) क्रम-परंपरा एकदम स्पष्ट है। iv) यह अपरिवर्तनीय है। मगर वहीं वे इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह एक तरफा है: "वर्ण पर इस एकाग्रता का अर्थ पारस्परिक जाति श्रेणीकरण में सहजगुण या आनुष्ठानिक कारकों को अधिक महत्व देकर आर्थिक और राजनीतिक कारकों की उपेक्षा करना था।" एक और जगह वे निष्कर्ष निकालते हैं: "जाति के कुछ पहलुओं को समझने के लिए यह सोच आज भी प्रासंगिक है। मगर यह उन गलत धारणाओं और विकृतियों को कायम रखने में सहायक रही है जो इसमें अंतर्निहित हैं।"

18.3.1 जाति का सामाजिक यथार्थ

श्रीनिवास आग्रह पूर्वक कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक यथार्थ वर्ण नहीं है जो कि एक वैचारिक श्रेणी है। बल्कि इसका सामाजिक यथार्थ जाति है जो वास्तविकता में परस्पर व्यवहार या अन्योन्यक्रिया करने वाला समूह है। यहीं पर आकर वे वर्ण-व्यवस्था के वैचारिक निहितार्थों को चुनौती देने और उन्हें बदलने का प्रमाण पाते हैं। पर जैसे ही हम एक वैज्ञानिक संकल्पना के रूप में वर्ण-व्यवस्था के अवमूल्यन की अपेक्षा करते हैं तभी हमें गतिशीलता के आंदोलनों की सामाजिक विचारधारा के रूप में इसमें प्रसार होता दिखाई देने लगता है। वास्तव में वर्ण अगर एक व्यवहार संबंधी संकल्पना नहीं है तो यह जाति का मूल आधार तो है ही और संभावनाओं को जन्म देने में इसकी वास्तविकता को हम नकार नहीं सकते।

जाति की सामाजिक वास्तविकता वर्ग नहीं जाति है।
साभार: किरणमई बुसी

बोध प्रश्न 1

1) जाति के ऐतिहासिक संदर्भ पर पांच पंक्तियों में प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

2) जाति के सामाजिक यथार्थ से श्रीनिवास का क्या तात्पर्य है? पांच पक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' की संकल्पना प्रस्तुत कर जाति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसमें उन्होंने वैचारिक क्रम-परंपरा को अन्योन्यक्रिया संबंधी गतिशीलता से जोड़ा और जाति की इस पुरानी धारणा को तोड़ा कि एक संस्था के रूप में इसमें किसी भी तरह के बदलाव या गतिशीलता के लिए कोई स्थान नहीं है।

वे इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझाते हैं: "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके जरिए एक निम्न हिन्दू जाति, जनजाति या अन्य जनसमूह अपने रीतिरिवाजों, अनुष्ठानों, विचारधारा और जीवन शैली को ऊंची और बारंबार 'द्विज' जाति की दिशा में बदलता है।" इसमें उन्होंने अन्य मॉडलों के सबसे महत्वपूर्ण संदर्भ समूह को भी लिया है। असल में सांस्कृतिक पैटर्न में बद्ध क्षत्रियों की अभिव्यक्तिशीलता अधिक सुगम रही है और उसे सांस्कृतिक पैटर्नबद्ध ब्राह्मणों की तपश्चर्या से ज्यादा बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है।

इस प्रक्रिया की पुष्टि में जो ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं, उन पर अब कोई मतभेद नहीं हैं। श्रीनिवास कहते हैं: "भारत के इतिहास में संस्कृतीकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रमुख प्रक्रिया रही है और यह भारतीय उपमहाद्वीप के हर हिस्से में हुई है। कुछ कालों में यह प्रक्रिया तेज रही तो कुछ में कम, सो भारत के कुछ भाग अधिक संस्कृत हैं तो अन्य कम।" मगर इसमें संदेह नहीं कि यह प्रक्रिया सभी जगह चली है। उदाहरण के लिए के. एम. पाणीकर का कहना है कि नंद सही अर्थों में सबसे आखिरी क्षत्रिय थे, जो पांचवी शताब्दी में लुप्त हो गए। तब से शूद्रों ने भारी संख्या में राज घरानों को जन्म दिया है। असल में राजा या शासक ही वह लौकिक शक्ति थी, जिसने धार्मिक सत्ता माने जाने वाले ब्राह्मण के कहने पर जातियों के क्रम-परंपरा का निर्धारण किया।

इस प्रकार संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से समूहों के आर्थिक हितों और सत्ताधिकार में होने वाले परिवर्तनों में तालमेल बिठाया जा सका क्योंकि इससे अन्योन्य-क्रिया के वास्तविक परिणामों को जाति की विचारधारा के धरातल पर प्रतीकात्मक औचित्य मिला। यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिन परिवर्तनों की बात हम कर रहे हैं उनका संबंध क्रम-परंपरा में जातियों के स्थान से है न कि ढांचे से और जिस गतिशीलता की बात हम यहां कर रहे हैं, उसका संबंध अपने जीवन काल में व्यक्ति की निजी गतिशीलता से नहीं

है। न ही इसका संबंध एक या दो पीढ़ी में होने वाली पारिवारिक गतिशीलता से है। बल्कि इसका संबंध सामुदायिक गतिशीलता है, जो अनेक पीढ़ियों में होती है। इस तरह की सामाजिक गतिशीलता को हम पश्चिम जैसे व्यक्तिवादी समाज में बने प्रतिमानों की कसौटी पर नहीं कस सकते। बल्कि हो सकता है कि ये प्रतिमान इस गतिशीलता को पकड़ ही न पाएं। इसलिए संस्कृतीकरण के जरिए वास्तविक गतिशीलता का प्रतीकात्मक रूप से औचित्य ठहराने की जरूरत भारत में आधुनिकीकरण और बदलाव की किसी भी प्रक्रिया में विचारधारा की निर्णायक भूमिका को दर्शाती है।

एक बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया संस्कृतीकरण की विपरीत दिशा में चलती है। मगर जहां संस्कृतीकरण ने भारतीय समाज को युगों से प्रभावित किया है, वहीं पाश्चात्यीकरण अपेक्षाकृत नवीन और अपूर्ण परिघटना है, जो शहरों तक सीमित है। पर दोनों में एक बुनियादी समानता यह है कि दोनों संस्कृति के स्तर पर खड़ी हैं। श्रीनिवास के अनुसार: "आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन संस्कृतीकरण और पाश्चात्यीकरण के रूप में करने का अर्थ संरचनात्मक के बजाए मुख्यत: सांस्कृतिक शब्दावली में वर्णन करना है। इसके अलावा ये दोनों प्रक्रियाएं 'उधार के मनोविज्ञान' पर आधारित हैं।

18.4 दो सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

एक संस्था के रूप में जाति को समझने के लिए हमने अभी तक दो मूल सिद्धांत पहचाने हैं। इनमें एक वैचारिक सिद्धान्त है, जिसमें संस्कृति और क्रम-परंपरा के मॉडल पर बल दिया गया है। दूसरे सिद्धान्त का संबंध अन्योन्य-क्रिया यानी परस्पर-प्रभाव से है, जिसमें संरचना और सामाजिक स्तरीकरण के मॉडल पर जोर दिया जाता है। पहले सिद्धांत का मुख्य केन्द्र जाति की आनुष्ठानिक प्रतीकात्मकता है, तो दूसरे का संबंध सत्ताधिकार या शक्ति से है। दोनों सिद्धांतों का सरोकार जाति की आज बदलती हुई सामाजिक वास्तविकता है। मगर इसमें आश्चर्य नहीं कि दोनों सिद्धांत आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से जाति के संबंध के सिलसिले में बिल्कुल भिन्न व्याख्याएँ और निष्कर्ष निकालते हैं।

18.4.1 अन्योन्य-क्रियात्मक का सिद्धांत

यह सिद्धांत आजकल अधिक प्रचलित है। मगर इसमें भी एक आयामी मॉडल, खासकर आर्थिक समानयनवाद पर चलने वाले रूढ़िवादी मार्क्सवादी मॉडल को अपर्याप्त माना जाता है क्योंकि जब जाति के धार्मिक और राजनीतिक स्वरों को समाज की अधिरचना या बाहरी ढांचे की अनुघटना में परिणत कर दिया जाता है तो यह आर्थिक समानयवाद विश्वसनीय नहीं लगता।

वेबर के क्लासिक बहुआयामी मॉडल में हमें जाति को बेहतर ढंग से समझने की संभावना अधिक नजर आती है। वेबर ने स्वयं इस मॉडल को सबसे पहले जाति पर प्रयोग किया था। तब से जाति के अध्ययन में यही मॉडल अधिक से अधिक प्रयोग किया जा रहा है। इसी क्रम में बेटाइली ने भी दक्षिण भारत के एक गाँव के अपने व्यष्टिपरक अध्ययन (केस स्टडी) में वेबर के मॉडल का ही प्रयोग किया था। कोई 50 वर्ष पूर्व जाति के ढांचे में अमूमन आर्थिक और राजनीतिक श्रेणीकरण शामिल रहते थे। मगर आज जाति विहीन व्यवसायों और भूमि के अलावा सत्ताधिकार के अन्य संसाधनों का आविर्भाव होने के कारण जाति, वर्ग और सत्ताधिकार के बीच प्रस्थिति संगति कम हो गई है। बल्कि ये सभी एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व बना कर रहने लगी हैं।

पराधीन भारत में संस्कृतीकरण की जो प्रक्रिया गतिशीलता का प्रमुख माध्यम थी, उसे हम इस सिद्धांत की रोशनी में आसानी से समझ सकते हैं। मगर स्वांतत्र्योत्तर भारत में जो सामाजिक-आर्थिक बदलाव आए हैं और विशेष रूप से निम्न जाति समूहों को देश का

'नागरिक' और 'मतदाता' का जो नया दर्जा मिला है उसने राजनीतिक सहभागिता को संस्कृतीकरण की जगह सामाजिक गतिशीलता का एक बुनियादी विकल्प बना दिया है। असल में नव-बौद्धों में चल रहे बौद्ध धर्म आंदोलन को अगर संस्कृतीकरण के तिरस्कार के रूप में लिया जा रहा है तो उचित ही है। लिंच (1969) तो जोरदार ढ़ँग से कहते हैं "कि राजनीतिक भागीदारी ही वह रास्ता है जिसे भारत में चल रहे गतिशीलता के आंदोलन अधिकाधिक अपनाएंगे।"

बॉक्स 18.01

एक अनुकूली संस्था के रूप में जाति पर इस प्रकार की भागीदारी का दोहरा प्रभाव पड़ा है: एक प्रभाव रूढ़िवादी है, जो जाति के आंतरिक सामाजिक संगठन पर पड़ा है। यह प्रभाव जाति की एकता, अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखेगा ताकि वह और अधिक प्रभावशाली ढंग से लामबंद हो सके। दूसरा रचनात्मक प्रभाव अन्य जातियों के साथ उसके बाहरी संबंधों पर पड़ता है, जो सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और संपदा अर्जन की दिशा में दुर्लभ संसाधनों में अपने हिस्से को बढ़ाने के प्रयास में जुटी रहती हैं और जैसा कि लिंच कहते हैं, वे "आदिकालीन समझौते की नागरिक राजनीति" को जन्म देती हैं। बाजार अर्थ-व्यवस्था और जनतांत्रिक राजनीति से जिस स्वतंत्रता का आविर्भाव हुआ है, वह समूहों को अन्य समूहों के उद्देश्यों की बराबरी में ही अपने उद्देश्यों पर अमल करने का सत्ताधिकार प्रदान करती है। पहला प्रभाव जातिगत निष्ठाओं को संरक्षित करने का काम करेगा और दूसरा प्रभाव व्यापक निष्ठाओं का सृजन करेगा। लिंच अपने निष्कर्ष में कहते हैं: "एक नव उदित राज्य को राष्ट्र बनने के लिए जो संघर्ष करना पड़ता है, उसमें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया खुद-ब-खुद नागरिकता और जाति प्रस्थितियों के बीच परस्पर स्पर्धी निष्ठाओं को जन्म देती है और उन्हें तीव्रता प्रदान करती है।"

18.4.2 विशेषताबोधक सिद्धांत

यह सिद्धांत हमारा ध्यान जाति के सांस्कृतिक पहलू के बजाए संरचनात्मक पहलू की ओर आकर्षित करता है। पर जाति जैसी संस्था के लिए इसका आधार बनने वाली विचारधारा जाति और आज प्रचलित जातिगत पहचान को सही ढंग से समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत के संदर्भ में फ्रेंच समाजशास्त्री लुई द्युमोंत ने *होमो हायर्किकस* नामक पुस्तक में जाति के अध्ययन के लिए प्रयोग किए जाने वाले स्तरीकरण मॉडल के प्रतिवाद में बड़ी गहरी टिप्पणी करके वैचारिक नजरिए की ओर फिर से ध्यान मोड़ा।

क्रम-परंपरा के सिद्धांत की प्रासंगिकता का आग्रह करते हुए द्युमोंत बताते हैं कि यह आधुनिक मानसिकता से कितनी दूर है। आधुनिक व्यक्ति की विचारधारा निश्चय ही समतावादी और व्यक्तिवादी है, जो कि क्रम-परंपरावादी और सामूहिकतावादी विचारधारा के एकदम उलट है। मगर समता सामाजिक रूप से चरित्रार्थ किया जाने वाला आदर्श है, तो क्रम-परंपरा सामाजिक यथार्थ क्योंकि प्रकार्य की दृष्टि से समाज अगर विभेदित है तो उसके जीवनक्षम होने के लिए जरूरी है कि वह मूल्य समेकित हो। यानी उसकी अपनी मूल्य व्यवस्था हो। द्युमोंत कहते हैं: "आदमी सोचता ही नहीं बल्कि वह करता भी है। उसके अपने विचार ही नहीं होते बल्कि मूल्य भी होते हैं। किसी मूल्य को अंगीकार करने का अर्थ क्रम-परंपरा को शुरू करना है।"

सो क्रम-परंपरा समाज को उसके मूल्यों के संदर्भ से जोड़ती है। द्युमोंत की परिभाषा में क्रम-परंपरा, "वह सिद्धांत है जिसका द्वारा *समष्टि* के तत्व उस समष्टि के तुल्य श्रेणीबद्ध रहते हैं।" पर यह श्रेणीकरण सत्ताधिकार के पैमाने पर न होकर प्रस्थितियों के क्रम-स्थापन के रूप में होता है। क्रम-परंपरा समाज की ऐसी भौतिक एकता की अभिव्यक्ति नहीं करती, जो एकता सत्ताधिकार या धन, या प्रतिष्ठा जैसे किसी सामान्यीकृत माध्यम से आयी हो (स्तरीकरण का मॉडल इसी धारणा पर चलता है)। बल्कि यह मूलत: उसकी संकल्पनात्मक या प्रतीकात्मक एकत्व को व्यक्त करती है। इस एकत्व में वह ब्रह्मांड एकता भी शामिल है, जो हमें सामाजिक व्यवस्था में दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में सामाजिक

व्यवस्था को इस सिद्धांत में ब्राह्मंड एकत्व की आनुष्ठानिक अभिव्यक्ति के रूप में लिया गया है।

18.4.3 धार्मिक क्रम-परंपरा

इस प्रतीकात्मक एकत्व की व्याख्या क्रम-परंपरा के संबंध में की गई है, जो द्युमोंत की परिभाषा में "वृहत्तर और लघुतर या और स्पष्ट कहें तो *समावेशी* और *स्माविष्ट* के बीच विद्यमान संबंध है।" द्युमोंत का कहना है कि प्रत्येक समाज में सामाजिक जीवन के एक पहलू विशेष को प्राथमिक मूल्य के रूप में महत्व मिलता है, जो अन्य सभी बातों का इसके साथ ही अपने में समावेश कर लेता है और उन्हें यथासंभव व्यक्त भी करता है। वर्ण-व्यवस्था जो कि एक धार्मिक क्रम-परंपरा है, इसके संदर्भ में इसका अभिप्राय यही है कि जिन कृत्यों में धार्मिक पहलू न्यूनतम हो उन्हें व्यवस्था के भीतर *समाविष्ट* कर लिया जाता है, जिसका निर्माण निश्चय ही धार्मिक कृत्य करते हैं। इस धार्मिक क्रम-परंपरा की आनुष्ठानिक अभिव्यक्ति 'पवित्र- और 'अपवित्र' के बीच विरोध में होती है। जाति के बीच पृथकता और विशिष्टता के मूल में यही द्विभाजन स्थित है, जो सभी को एक क्रम-परंपराबद्ध समष्टि में सम्मिलित कर लेता है।

जाति को द्युमोंत 'शुद्ध क्रम-परंपरा' का उदाहरण मानते हैं। जाति पर उन्होंने क्रम-परंपरा के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, वह निश्चित ही चुनौतीपूर्ण है। मगर उसके आलोचक भी कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए *मैककिम* मैरियॉट को जाति क्रम-परंपरागत श्रेणीकरण के बारे में उल्लेखनीय आम सहमति देखने को मिलती है। मगर वे इसे मुख्यत: सामुदायिक संरचना के चार आयामों से जोड़ते हैं, किसी विचारधारा से नहीं। वे अपने निष्कर्ष में कहते हैं: "आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा अपने आप में आर्थिक, राजनीतिक और अन्योन्य-क्रिया के अन्य गैर-आनुष्ठानिक क्रम-परंपराओं से ही अंशत: विकसित होती है, उन्हें ही व्यक्त करती है, उनसे ही सकारात्मक रूप से सहसंबद्ध रहती है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है। क्रम-परंपरा में अधिकांश जातियां अंततोगत्वा ऐसे स्थान हासिल करती हैं, जो उनकी सापेक्षिक समृद्धि और सत्ताधिकार के अनुरूप होते हैं।"

द्युमोंत इस तरह की 'प्रस्थिति संगति' के बारे में जानते तो हैं, मगर श्रेणीकरण अनुक्रम में वे अन्योन्य-क्रिया के बजाए सहजगुण को ही प्रमुख कारक मानते हैं।

वे अछूतों के बारे में लिखते हैं: "इन जातियों की अत्यधिक धार्मिक हीन-स्थिति असल में प्रबल जातियों पर उनकी सांसारिक निर्भरता को व्यक्त करती है और उसे *समाविष्ट* करती है।" संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में अंतर्निहित प्रतीकात्मक औचित्य के माध्यम से हालांकि सामाजिक गतिशीलता होती तो है, मगर इसे स्थितीय परिवर्तन माना जाता है, संरचनात्मक परिवर्तन नहीं। असल में यह क्रम-परंपरा के सिद्धांत की पुनर्स्वीकारोक्ति है।

18.4.4 द्युमोंत का सिद्धांत

द्युमोंत ने अपने सिद्धांत में विचारधारा पर जो बल दिया है वह स्थायी सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करने में काफी सफल रहा है, जिसमें सरंचना और संस्कृति के बीच हमें एक सुसंगत पारस्परिकता देखने को मिलती है। मगर सामाजिक बदलाव की स्थिति में इन तत्वों में विसंगतियां और तनाव पैदा हो जाते हैं क्योंकि इस प्रक्रिया में सांस्कृतिक कमियां उत्पन्न हो जाती हैं जिसमें दोनों तत्वों में कोई एक इस परिवर्तन को लाने वाले प्रमुख कारक का काम कर सकता है। परिवर्तन की विशद व्याख्या में, विशेषकर आधुनिकीकरण के संदर्भ में, इन दोनों तत्वों को भी शामिल किया जाना चाहिए जिसका अर्थ दूरगामी परिणामों वाले संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से है। द्युमोंत का विश्लेषण पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था की गहराई से व्याख्या करता है, मगर इसे आज जाति की बदलती स्थिति से जोड़ना जरूरी है।

बोध प्रश्न 2

1) जाति संस्था के बारे में प्रचलित दो सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए। अपना उत्तर पांच से दस पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सही या गलत बताइए

i) श्रीनिवास ने *होमो हायर्किकस* लिखी थी:

सही ☐ गलत ☐

ii) धार्मिक क्रम-परंपरा की अभिव्यक्ति आनुष्ठानिक रूप से पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध में होती है:

सही ☐ गलत ☐

द्युमोंत जांनते हैं कि जो सामाजिक गतिशीलता आज भारत में दिखाई दे रही है वह अब जाति क्रम-परंपरा से नियंत्रित नहीं होती। वे लिखते हैं कि जो कुछ हम देख रहे हैं वह "एक अस्थिर, संरचनात्मक ब्रह्मांड, जिसमें परस्पर-निर्भरता को महत्व दिया जा रहा हो और जिसमें कोई विशेषाधिकार भोगी स्तर नहीं हो, कोई ठोस इकाई न हो, उससे एक ऐसे अभेद्य खंडों के ब्रह्मांड में संक्रमण है, जो आत्म-निर्भर, मूलत: समरूप और एक-दूसरे के स्पर्धी हैं। यह एक ऐसा ब्रह्मांड है, जिसमें जाति एक सामूहिक इकाई, एक ठोस तत्व के रूप में नजर आती है।"

यही जाति का तत्वीकरण है, जिसमें प्रत्येक जाति समूह एक अलग नैतिक सत्ता का स्वरूप धारण कर लेता है, जो इस तरह के अन्य समूहों के सामने खड़ी हो जाती है। व्यवहार के धरातल पर इसका अर्थ यह है कि इसमें स्पर्धा की जगह सहकार या सहयोग की भावना ले लेती है। विचारधारा के दृष्टिकोण से इसका अर्थ संरचना का तत्व में रूपांतरण है, उर्ध्व समेकित समूहों का समस्तरीय पृथक समूहों में रूपांतरण है।.

बॉक्स 18.02

दुर्लभ संसाधनों को हथियाने की इस होड़ में जातियां लामबंद होती हैं और उनमें संघर्ष भी होता है। क्रम-परंपरा की विचारधारा परस्पर-निर्भर जातियों के बीच प्राचीन न्योन्य-क्रिया को स्थिर रखने का काम करती थी। मगर इस सामूहिक स्पर्धा और संघर्ष को कौन सी वैचारिक सहमति नियंत्रण में रखेगी? आधुनिक लोकतंत्र में चुनावी ढांचा और एक समतावादी विचारधारा इस काम को अंजाम देते हैं। मगर आज जिस तरह के तेज बदलाव और संकट हम देख रहे हैं, उसमें ये भी निष्प्रभावी हो जाते हैं।

द्युमोंत एक समावेशी सांस्कृतिक विचारधारा की जरूरत पर जोर देते हैं, क्योंकि यह अन्योन्य-क्रिया की उस प्रक्रिया से स्वत: विकसित नहीं होगी, जो जाति क्रम-परंपरा को तोड़

रही है। पर उनकी यह आशा निर्मूल दिखाई देती है कि आधुनिकीकरण जाति के स्वरूप में बिखराव और लचीलापन लाएगा, क्योंकि वे भारतीय समाज में जाति क्रम-परंपरा की महत्ता को ध्यान में रखकर नहीं चलते। भारतीय समाज समूहोन्मुखी है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि जाति की अभिव्यक्ति हमें नाना प्रकार की साम्प्रदायिकता में होती नजर आती है। श्रीनिवास का मानना है कि "भारत में एकता की धारणा मूलत: धार्मिक एकता है।" जाति क्रम-परंपरा के अस्वीकरण में अंतर्निहित पंथ-निरपेक्षता के लिए आवश्यक है कि हम भारत की एक नूतन संकल्पना को अपनाएं जो राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक एकीकृत सत्ता हो। सांप्रदायिकता पर अंकुश लगाने में राष्ट्रवाद तभी सफल रहेगा।

अभ्यास 2

द्युमोंत को क्यों लगता है कि जाति एक धार्मिक क्रम-परंपरा है, इस पर मनन करें और अपने सहपाठियों व समुदाय के लोगों से इस पर बातचीत करें। इस चर्चा से आपको जो भी बातें मालूम हों उन्हें नोटबुक में लिख लें।

18.5 सारांश

जाति के दो पहलू हैं: आनुष्ठानिक प्रतीकात्मकता और सत्ताधिकार संबंध। इस संदर्भ में अन्योन्य-क्रिया और सहजगुण दोनों सिद्धांतों को ध्यान में रखना जरूरी है। आज के भारतीय समाज में ढांचा और संस्कृति दोनों बदल रहे हैं। हमें दोनों आयामों में होने वाले परिवर्तनों पर नजर रखनी चाहिए और एक को दूसरे से कम या ज्यादा करके आंकना नहीं चाहिए। अन्योन्य-क्रियावादी राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था में सत्ताधिकार या शक्ति समीकरणों और लोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्था तथा नियोजित या बाजार अर्थ-व्यवस्था की प्रासंगिकता के मद्देनजर उनके औचित्य पर जोर देते हैं। सांस्कृतिक स्तर पर इसका अर्थ लोकतांत्रिक समतावादी विचारधारा का वैयक्तिकीकरण है। दूसरी ओर विशेषताबोधक सिद्धांत, विशेषकर द्युमोंत का सिद्धांत जाति क्रम-परंपरा के सामने इस लोकतांत्रिक चुनौती को सांप्रदायिकता के उदय के रूप में देखता है, जिसमें जाति समूहों की सांस्कृतिक पहचान क्रम-परंपरा के अनुरूप न होकर एक दूसरे के विरोध में खड़ी होती है। संरचना के स्तर पर यह जाति का 'तत्वीकरण' है। पहले का प्रतीक जाति की आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा, तो दूसरे का प्रतीक सत्ताधिकार का ढांचा है। इन दोनों सिद्धांतों में हमें एक निश्चित मतांतर नजर आता है जो इनके मूल प्रस्थान बिन्दुओं से उत्पन्न होता है।

वॉन डी बर्ग के अनुसार "बहुलतावादी समाजों को अक्सर राजनीतिक बाध्यता और आर्थिक अंत:निर्भरता का मिश्रण जोड़ कर रखता है।" राजनीतिक शक्ति या सत्ताधिकार का प्रयोग अगर असम सामाजिक संबंधों को जन्म देने और उन्हें कायम रखने के लिए किया जा सकता है, तो इसका प्रयोग इस तरह के अन्याय को समाप्त करने के लिए भी किया जा सकता है। सामाजिक संघर्ष के अपने प्रयोजन और प्रकार्य हैं। पर अंत:निर्भरता की स्थिति में सत्ताधिकार के प्रयोग के लिए मूल्य-सहमति होना जरूरी है, भले ही वह साधारण सी हो। अन्यथा समाज पूर्ण रूप से संघर्ष की स्थिति में फंस जाएगा। इसीलिए इस अंत:निर्भरता को आधार देने, इस संघर्ष को नियंत्रण में रखने और एक न्यायप्रिय और समतापूर्ण समाज के लिए मूल्य सहमति प्रदान करने के लिए ही विचारधारा पर विशेष बल दिया जाता है।

18.6 शब्दावली

जाति : जातियां सैकड़ों की संख्या में हैं। ये वर्ण-व्यवस्था के मॉडल में वर्णित वर्णों से अलग है, जिनकी संख्या सिर्फ चार है।

नृजातिवृत्तीय : एक मानव संस्कृति विशेष के बारे में उपलब्ध डाटा या सिद्धांत और प्रेक्षण से संबंधित।

सत्ताधिकार : अपने या अपने समुदाय के लाभ के लिए अपने पद और प्रस्थिति के कारण स्थिति को प्रभावित करने की क्षमता।

अनुष्ठान : किसी भी उद्देश्य, जो कि धार्मिक या जादुई हो सकता है, की प्राप्ति के लिए क्रमबद्ध कृत्यों की श्रृंखला।

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

द्युमोंत लुई, (1972) *होमो हायर्किक्सः द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्लीकेशंस* लंदन, ग्रैनैडा

श्रीनिवास, एम. एन. (1996), *सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया,* मुंबई, ओरिएंट लांगमैन

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) एक संस्था के रूप में जाति के अध्ययन के लिए मुख्यत: दो स्रोत काम में लाए जाते हैं: साहित्यिक और ऐतिहासिक। पहले के लिए विद्वानों ने स्मृति और धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप जाति का ब्राह्मणवादी नजरिया उत्पन्न हुआ। मगर आज ऐतिहासिक स्रोत पर अधिक बल दिया जा रहा है, जिसमें अंतर्सामूहिक संबंधों और शक्ति समीकरणों पर ध्यान दिया जाता है।

2) जाति के सामाजिक यथार्थ से श्रीनिवास का यही तात्पर्य है कि वर्ण-व्यवस्था वर्ण नहीं बल्कि जाति है। इसका यह मतलब है कि इसकी उपजाति ही अन्योन्य-क्रिया करने वाला समूह है। पर वर्ण के मूल में जाति ही है और यह सामाजिक यथार्थ को संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के जरिए नया रूप देने में सक्षम है।

बोध प्रश्न 2

1) जाति की व्याख्या के लिए प्रतिपादित दो मूल सिद्धांत अन्योन्य-क्रिया और विशेषताबोधक सिद्धांत हैं। विशेषताबोधक सिद्धांत वैचारिक नजरिया लेकर चलता है जिसमें संस्कृति और क्रम-परंपरा पर बल दिया जाता है। अन्योन्य-क्रिया का सिद्धांत संरचना और स्तरीकरण मॉडल पर जोर देता है।

2) i) गलत

   ii) सही